महर्षि दयानंद सरस्वती का राजनीतिक चिंतन

पेज नं. 1
* डॉ. तिहारू राम बघेल
पीएच.डी.,नेट,सेट
शिक्षक (पंचायत),गुखेरा,आरंग,जिला–रायपुरा (छ.ग.)

भूमिकाः–

भारतीय इतिहास में 19 वी–20वी शताब्दी राजनीतिक घटनाओ के अतिरिक्त सामाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलन के लिए भी विख्यात है। इस समय भारतीय समाज और धर्म अनेक खढ़ियो एंव कुप्रथाओं में ग्रस्त हो चुका था। कुछ विद्धवानो की राय मे भारत में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के समय भारतीय समाजिक ढाचा प्रायः स्थिर और अपरिवर्तनशील था,जातिप्रथा,छुआछूत,सतीप्रथा,बाल विवाह,पर्दाप्रथा,मूर्तिपूजा,धार्मिक अंधविश्वास जैसी बुराइयो से भारतीय जीवन ग्रसित था। अंगेजो ने प्रारंभ में इस व्यवस्था को हटाने का कोई भी प्रयास नही किया,क्योकि भारतीय सामाजिक जीवन की दुर्बलता का लाभ उठाकर वे अपनी सत्ता मजबूत करना चाहते थे, परन्तु अनके कारणो से धीरे–धीरे भारतीयों का अपने समाज एवं धर्म के प्रति दृष्टिकोण बदलने लगा। पाश्चात्य शिक्षा एंव ज्ञान–विज्ञान के सम्पर्क से भारतीयो में भी नाई चेतना की भावना जागी। अग्रेजी शासन की बुराइयो,नए भारतीय सामाजिक वर्ग के उदय एंव प्रबुद्ध भारतीयो द्वारा अपनी सामाजिक एंव धार्मिक कुप्रथाओ को हटाने की चाह ने भारत मे एक सामाजिक एंव धार्मिक सुधार आन्दोलन को जन्म दिया जिसे भारतीय पुर्नजागरण की संज्ञा दी जाती हैं। 1

आधुनिक भारत वर्ष की निमार्ण में अनगिनत महापुरूर्षो का योगदान रहा है। 19वी–20वी शताब्दी के धार्मिक,सामाजिक और राजरीतिक जीवन में स्वामी दयानंद सरस्वती एंव उनके द्वारा स्थापित आर्मसमाज ने
महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्यसमाजः–

स्वामी दयानंद सरस्वती का वास्तविक नाम मूलशंकर था। इनका जन्म गुजरात प्रान्त के टंकारा नामक ग्राम में जो कि कठिमावाड़ में स्थित है, मे 1824 ई.मे. हुआ था। इनका जन्म एक कट्टर ब्राम्हण परिवार में हुआ था। मूलशंकर को बचपन में शिवभक्ति की शिक्षा दी गई थी और उनके प्रारंभिक जीवन में धर्म का गहरा प्रभाव था जैसी उम्रा बढ़ती गई धार्मिक आण्डम्बर के प्रति मन मे विद्वेश एवं अग्राहिता भी बढ़ती गई। वे युवावस्था मे ही घर छोड़कर आधयात्मिक ज्ञान की खोज में निकल पड़े मथुरा के स्वामी विरजानंद सरस्वती से 1859 ई.मे दीक्षा ग्रहण की । उन्ही से आपको वैदिकर्धम और साहित्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हुआ गुरू के आदेशानुसार उन्होने वैदिक ज्ञान का प्रचार–प्रसार प्रारंभ किया,1863 ई मे आग्रह से पाखण्ड–खंडिनी पठाका लहराई बंबाई मे 7 अप्रेल 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। सत्यार्थ प्रकाश नामक पुस्तक मे आपने अपने उदेश्यो और सिद्धान्तो को जनता के समक्ष रखा। उत्तर–भारत विषेशतया पंजाब और उत्तर प्रदेश में धार्मिक–सामाजिक सुधारो के क्षेत्र मे स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्यसमाज ने अहम भूमिका निभाई। आर्यसमाज एक आन्दोलन था, अब भी जीवत है, जो कि भारत मे बढ़ते पाश्चात्य प्रभावो की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने वैदिक ज्ञान के सर्वोपरी माना और कहा कि प्रत्येक भारतीय को वेदो की ओर चलनी चाहिए। शीघ्र ही आर्यसमाज कि शाखाये अन्य भागो मे भी स्थापित होने लगी। बाद मे लाहौर आर्यसमाज का प्रमुख केन्द्र बन गया। इसने उत्तर भारत मे मुख्यता पंजाब एंव उत्तर प्रदेश मे ब्रम्हसमाज के प्रभाव को नगन्य बना दिया था। आर्यसमाज में सदस्यो की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी,यद्यपि,स्वामी जी की मृत्यू (1883 ई.) से आर्यसमाजियो को गहरी क्षति हुई, फिर भी उस संस्था का प्रसार होता गया। 1893 ई.मे आर्यसमाज मे फूट पड़ गई और दो दल बन गए,प्रो.सुमित सरकार ने उस फूट के लिए दो उत्तरदायी कारण बताए है–मांसाहारी और शाकाहारी भोजन तथा अंगेजी और संस्कृत शिक्षा का प्रश्न,लेकिन उसके अतिरिक्त डॉ.एम.एस.जैन के अनुसार मतभेद का कारण यह भी था कि क्या स्वामी दयानंद सरस्वती के विचारो की व्याख्या की जा सकती है ? इस मतभेद और फूट के बावजूद आर्यसमाज का विकास होता

पेज नं. 2

गया और 20 वी शताब्दी मे धार्मिक,सामजिक और राजनीतिक जीवन मे उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लाला हंसराज पं.गुरूदत्त और लाला लजपतराय ने और व्यापक बनाया।

महर्षि दयानंद सरस्वती का राजनीति चिंतन

राष्ट्र शब्द का आरंभिक प्रयोग विश्व के प्राचीनतम वाङमय वेद में हुआ है। वेद में कहा गया है– 'वयं राष्ट्र जागृयाम्' किन्तु यह कहाना सचमुच कठिन है कि यहाँ राष्ट्र शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण विस्तृत भारत के लिए हुआ है जितना कि वह आज है। वेद और उत्तर वैदिक साहित्य में राष्ट्र के साथ वैराज्य, विराट तथा राष्ट्रिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।[1] इससे ऐसा संकेत मिलता है कि राष्ट्र एक विशिष्ट शासन प्रणाली था, एक ऐसी धारणा नहीं था जिसे राज्य तथा राजनीतिक दृष्टि से संगठित समाज का समनार्थक माना जा सके।[2] यह प्रायः निश्चित ही है कि राष्ट्र शब्द का प्रयोग पश्चिमी गंगा, सिंधु मैदान में बसे उन अनेक छोटे राज्यों में से प्रत्येक के लिए किया गया था जिन पर आर्यों का प्रभुत्व था और जिन्हें उत्तर वैदिक काल में जनपद कहा गया है। राष्ट्र का अर्थ साहित्य में प्रायः राज्य होता है, पर राष्ट्रकूट शासन में यह एक कमिश्नरी का बोधक था। दक्षिण में पल्लव, कदम्ब आदि राज्यों में राष्ट्र का अर्थ तहसील या अधिक से अधिक जिला था।[3]

वेदों में राजा और राष्ट्र समनार्थी है। एक का अस्तित्व दूसरे के बिना नहीं है। जिस प्रकार समुद्र में नदियों का जल एकरूप हो जाता है उसी प्रकार राजा विभिन्न वर्णों के लोगों को राष्ट्र के अन्तर्गत एकरूपता प्रदान करता है।[4] प्रारंभ में अराजकता की स्थिति थी। एतरेय ब्राह्मण में देव और असुरों के बीच युद्धों का वर्णन मिलता है, जिसमें देव पराजित हुए। अपनी पराजय के कारणों का विश्लेषण करते हुए देवों ने यह बात स्वीकार की कि उनकी पराजय अराजकता की उस परिस्थिति के कारण हुई जिसमें कि वे रहेते थे और उन्होंने यह तय किया कि हम अपने लिए एक राजा प्राप्त करेंगे– राजानं करवामहा, 'राष्ट्र एक अवस्था है' राष्ट्रवाद उस अवस्था की सार्थकता का सिद्धान्त है एवं राष्ट्रीयता उक्त अवस्था की भावना है। देश, राष्ट्र के रहने का स्थान है। वेदों में राष्ट्र रक्त–संबंध पर आधारित है– गृहमेद्यी गृहपर्ति भवति। अर्थात परिवार का मुखिया समूचे कुल का स्वामी बना तथा उसे अपने कुटुम्ब के सदस्यों के जीवन और सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दे दिया गया। [5] यह कुल राष्ट्र और राज्य का प्रारंभिक बिन्दु था।

राष्ट्रीयता की परिभाषा अथवा राष्ट्र निर्माण के संबंध में सर्वव्यापक, सर्वमान्य नियम लागूकर सकना कठिन है। विभिन्न तत्वों के आकस्मिक संयोग से एकता की भावना उत्पन्न होती है, जिससे राष्ट्रीयता विकसित होती है। राष्ट्रवाद जनसमूह में विद्यमान एकता की उस विशेष भावना का नाम है जो इस जनसमुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी आघात का सामूहिक प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है। सदस्यों में आत्मीयता, साहचार्य राष्ट्र का प्रधान लक्षण है। वैदिक ऋषि कामना करता है कि हम सुमार्गगामी हों, कुपथगामी न हो।[6] हम कुबुद्धि से मुक्ति पायें।[7] स्वयं की उदरपूर्ति में निमग्न स्वार्थी मानव राष्ट्रीय एकता के लिए स्वार्थ त्याग करने में असमर्थ हेाता है, परन्तु पर हित चिंतक व्यक्ति रहते हैं तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि की इच्छा न करके दुखियों के दुख को स्वयं झेलना चाहते हैं ताकि दुखी व्यक्ति सुखी हो सके।[8] व्यक्ति को अपने सुख में तथा दुसरों के दुख में मुदित नहीं होना चाहिए।[9]

राष्ट्रीयता स्वभाव से ही आत्मिक एवं आन्तरिक होती है। राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए नागरिक परस्तपर एक–दुसरे की सेवा–सुश्रुषा करते हैं।[10] समर्थ नागरिक कठिन विपत्ति में पड़े हुए असहाय व्यक्तियों की सहायता करते हैं।[11] वैदिक प्रार्थनाओं में यह उद्‌गार व्यक्त किये गये हैं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति एक–दूसरे के मित्र हों।[12] ऋग्वेद में यह याचना की गई है कि समस्त दिशाओं से हम में उदात्व विचारों का आगमन हो।[13] राष्ट्र के नागरिकों का एक समान आचरण, समान वचन, समान मन एवं सभी का संगठन एक सा हो।[14] जो बन्धन मनुष्यों को एक राष्ट्र बनाने के लिए प्रेरित करते हैं वे मनोवैज्ञानिक तथा अध्यात्मिक है। वे चेतनापूर्ण भावनाएँ है जो सामान्य इतिहास की स्मृतियों द्वारा जोड़ी जाती है। विशेषकर शत्रुओं के विरूद्ध सामान्य संघर्ष, समान आर्थिक हित तथा सम्पूर्ण

पेज नं. 3

समाज की समृद्धि के लिए उनका प्रयास, ये विचार लोगों को देशभक्ति की भावनाओं वाला समुदाय बनाते हैं। यही राष्ट्र शब्द का सही अर्थ है। राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत व्यक्ति अपनी तथा राष्ट्र की एक साथ उन्नति की कामना करते हैं।[15] राष्ट्र की सबलता की रक्षा के लिए नागरिकों में अदम्य साहस, अटूट देशप्रेम, आत्मोत्सर्ग आदि गुणों की आवश्यकता है। वैदिक ऋषि का आदेश है कि व्यक्ति राष्ट्र की सेवा के लिए पदार्थों का उपभोग करें।[16] मनुष्य का अपने राष्ट्र से दृढ़ संबंध हो उनके वैक्तिक हीत, राष्ट्र हीत में बाधक न बनें। समुचे वैदिक साहित्य में राष्ट्रीय एक्य की कल्पना, राष्ट्रीयता के भाव एवं राष्ट्र के लिए आत्म समर्पण की भावना विद्यमान है।[17]

भारतीय राष्ट्रवाद मातृभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा का भाव है। वाल्मिकी रामायण के अनुसार हमारी राष्ट्रीयता 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी' की भावना से अनुप्राणित रही है। यह अपने मूल सिद्धानों के लिए महात्मा बुद्ध के वचन– सुखा संद्यस्स सामग्रो, समग्रानं तपो सुतो, अर्थात संद्य में एकता सुखकर होती है एवं साथ मिलकर तप करना भी, और तमिल

संगम काव्य की उन पंक्तियों से प्रेरणा ग्रहण करती रही है– याधुम उरे, यावरुम केलिर अर्थात विश्व मेरा गाँव है, मनुष्य मात्र मेरे लिए संगोत्रीय। सन्त तुकाराम ने कहा है – 'आमुचा स्वदेश भुवनत्रयामध्ये वास' अर्थात मेरा देश, सम्पूर्ण विश्व ही मेरा देश है। लोकमान्य तिलक 'गीता रहस्य' में उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम् की उद्घृत करते हुए लिखते हैं, देशभक्ति, विश्व भक्ति के मार्ग में केवल एक कदम है।

भारतीय राष्ट्रीयता, संस्कृति की कुक्षि से उत्पन्न हुई है। भारतीय संस्कृति, भारतीय राष्ट्रवाद का रचनात्मक एवं राष्ट्रीयता का भावनात्मक आधार है। भारत के पास पिछले पाँच हजार वर्षों से चिन्तन और दर्शन का जिसका प्रतिफल धर्म के रूप में हुआ, एक ऐसा ढाँचा रहा है जिसमें प्रत्येक भारतीय सांस लेता है। भाषा और ब्रम्हाण्ड, देश और समाज, जीवन और मृत्यु, व्यक्ति एवं उसकी नियति की एक ऐसी निश्चित व्याख्या है जो प्रत्येक भारतीय की धमनियों में रस–बस चुकी है। न केवल भौगोलिक सीमाओं की दृष्टि से अपितु वैचारिक पीठिका के हिसाब में भी भारत एक खुला हुआ देश रहा है। यूनानी आक्रमण के समय से ही भारत ने प्रत्येक ऐसे विचार को, जो कि उसे विदेशी प्रतीत हुआ, जाँचा–परखा और विभिन्न जातियों, कबीलों एवं सम्प्रदायों को अपनी मुख्यधारा में समाहित करते हुए उसने अपने बुनियादी ढाँचे को नष्ट नहीं होने दिया। भारत का उत्थान और पतन दोनों ही उसके अपने ढाँचे के भीतर हुए, ढाँचे से बाहर जाकर नहीं।

प्राचीन काल में भारत भूमि पर कितने ही छोटे–छोटे राज्य थे, परंतु देश राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक था। महाभारत एवं वाल्मिकी रामायण में ऐसे तीर्थ स्थलों का उल्लेख है जहाँ ऋषियों, पंडितों और यात्रियों को आने–जाने में राज्यों की संकुचित सीमाएँ बाधा नहीं थी। विद्वानों को अपने विचार, धर्म, कर्म और मोक्ष साधन के उपायों के प्रचार–प्रसार की स्वतंत्रता थी। इस पर भी जब कभी राज्य विशेष सामाजिक, सास्कृतिक और बौद्धिक प्रवाह में बाधक हो जाता था, तब विद्वान देश में किसी श्रेष्ठ, न्यायी, धर्म परायण राजा को चक्रवर्ती राज्यपद दिलाते थे और उस चक्रवर्ती राजा द्वारा देश में धर्म एवं संस्कृति पुनः एकता के लिए प्रयत्न करते थे। चक्रवर्ती राज्य का प्रयोजन देश के उन राज्यों में जहाँ संस्कृति और धर्म का लोप होने लगता था, सुव्यवस्था स्थापित करना होता था। जो अनुकूल राज्य होते थे, उनको तो साधारण भेंट देकर शांतिपूर्ण शासन करने की अनुमति मिल जाती थी। चक्रवर्ती राजा बनने के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह किसी विशाल भू–भाग का अधिपति हो। वह जो सब राजाओं में अधिक शक्तिशाली होता था और धर्म तथा संस्कृति की स्थापना में समर्थ होता था, विद्वान तथा ऋषिगण उसको ही अश्वमेघ यज्ञ करने की प्रेरणा देते थे और समूचे राष्ट्र में सांस्कृतिक एकमयता के लिए यज्ञ कराये जाते थे।[18]

चक्रवर्ती राज्य एक प्रकार से अर्ध–संघात्मक शासन प्रणाली के समतुल्य माना जा सकता है। राधा कमल मुखर्जी लिखते हैं 'भारत के निवासीयों को एक सूत्र में बाँधे रखने का काम धर्म सम्मत राज्य और धर्म सम्मत समाज की वैदिक धारणा के समान एक

पेज नं. 4

सार्वभौम अथवा चक्रवर्ती सम्राट के अधीन एकाधिराज्य की राजनीतिक धारणा ने भी किया है। इस अवधारणा का उद्भव भी वैदिक काल में ही हुआ था। आर्यवर्त के चक्रवर्ती राज्य की धारणा का पुनरूत्थान मौर्य एवं गुप्त वंश के सम्राटों तथा बाद के युगों में आर्यावर्त पर एकाधिराज्य स्थापित करने के आकांक्षी सभी राजाओं – जैसे यशोबर्मन, मौखरियों, पुष्पभूति और पालवंशीय राजाओं प्रतिहर सम्राटों तथा ग्यारहवीं एवं बारहवीं शताब्दीयों के नवोदित रघुकुल चक्रवर्तियों और साहसांकों सभी ने किया। चक्रवर्ती सम्राट की धारणा राजनीतिक मात्र नहीं वरन् सास्कृतिक भी है। चक्रवर्ती सम्राट की उथल–पुथल और विश्रृखलता के मध्य धर्मराज्य की स्थापना तथा धर्म शास्त्र की मूलभूत संहिता को लागू करता है। भारत की राजनीतिक दृष्टिकोण अनिवार्यतः आध्यात्मिक है। भारत का आदर्श शास्त्र–अस्त्रों द्वारा एक साम्राज्य की स्थापना करना नहीं वरन् समृद्धि एवं अनुशासन द्वारा एक सांस्कृतिक राज्य का निर्माण करना है।[19]

उल्लेखनीय है कि चक्रवर्ती राज्य तो केवल सांस्कृतिक, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के पूरक होते थे, परंतु आचार्य चाणक्य द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यों की परंपरा में स्वतंत्र राज्य नहीं रह सकते थे। साम्राज्यवाद का उद्देश्य समुचे देश में एकाकी सत्ता का विस्तार करना होता था। कालान्तर में दुर्बल साम्राज्यों ने सामन्तवाद को पन्पने का अवसर दिया। आंतरिक विग्रहों एवं विदेशी आक्रमणों से जर्जर साम्राज्यों के भग्नावशेषों पर अनेक शक्तिशाली सामन्तों और छोटे राजाओं ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। इन सामन्ती राज्यों में परस्पर एकता न था फलतः संघर्ष, षड़यंत्र एवं युद्ध सामान्य प्रचलन बन गये।

मध्यकालीन भारत में राष्ट्रवाद

मध्यकालीन भारत में राष्ट्रीयता का स्वरूप प्राचीन भारत से कुछ भिन्न प्रकृति का है। केवल मात्र पृथक राजनीतिक सत्ताओं का अस्तित्व भारतीय राष्ट्रवाद को चुनौती नहीं दे सकता। भारतीय राजाओं के पतन का दायित्व, जनसमूह की राष्ट्रीय चेतना अथवा राष्ट्रवाद की भावना के आभाव पर नहीं, अपितु स्वंय उनके क्षुद्र स्वार्थो एवं महत्वाकांक्षाओं पर है, जिससे वे राष्ट्रीय एकता की पुकार को समय रहते नहीं सुन पाये। राजाओं की पारस्परिक ईर्ष्या तथा बैर भावना ने विदेशी आक्रांताओं को इस देश में पैर जमाने का अवसर प्रदान किया। विदेशीयों द्वारा राजनीतिक सत्ता हथियाये जाने पर उनका प्रतिरोध करना राष्ट्रवाद का स्थायी भाव बन गया परंतु तात्कालिन परिस्थितियों में राष्ट्रीयता की भावना देशव्यापी तथा सुसंगठित नही हो पाई।

भारतीय राष्ट्रीय इतिहास का वह गौरवशाली अध्याय है जब ग्रीक विजेता सिकंदर को भारत भूमि के कुछ ही मील बड़े महंगे पड़ गये। खेतों में कार्य करते हुये किसान उसकी दिग्विजयी सेनाओं से जुझ पड़े, साधु–सन्यासी उन्हें प्रेरणा देते रहे और इस प्रकार सीमावर्ती छोटे–छोटे जनपदों ने ही देवपुत्र सिकंदर की सारी समर–शूरता की मिट्टी पलीत कर दी। घायल शरीर, टूटा मन लेकर तीन चौथाई सेना नष्ट कराते हुए, भारत विजय का स्वप्न छोड़कर वह लौट गया और उसी आघात से मर भी गया।[20] इस्लाम में नवदीक्षित अरबों ने यूरोप से स्पेन तक कहर ढा दिया था लेकिन काबुल एवं जाबुल जैसे छोटे–छोटे हिन्दू राज्य तीन शताब्दीयों तक अरबों के आक्रमणों को विफल करते रहे। सिंध में उनके पैर टिका भी पर शीघ्र ही उखड़ गये। इस्लाम के अनेक खलीफे भी अपनी समस्त शक्ति लगाकर भारत विजय का स्वप्न पूरा न कर सके, उल्टे भारतीय संस्कृति में समन्वित हो गये।

आठवी शताब्दी में अरबों द्वारा सिंध अभियान और फिर ग्यारहवीं सदी में तुर्को द्वारा पंजाब के मैदानों में लूटमार ऐसी राष्ट्रीय दुर्घटनाएं थी, जिनसे भारतीय राजाओं को सावधान हो जाना चाहिए था। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की भावना का आभाव उस युग में भी नहीं था। तोमर तेजपाल प्रथम (सन् 1081–1105 ई.) ने समस्त उत्तर भारत के राजाओं को जो रण–निमंत्रण भेजा था वह इस भावना का दिग्दर्शक है 'यदि महमूद रूपी महानंद के मार्ग में प्रबल बाँध न खड़ा किया गया तब समस्त भारत देश उसके प्रवाह में बह जायेगा तथा सभी छोटे–बड़े राज्य नष्ट हो जायेंगे।'[21] लेकिन उत्तर भारत में अब साम्राज्यों का युग समाप्त हो रहा था और अनेक राज्यों का उदय

पेज नं. 5

हो रहा था। राष्ट्र रक्षा की यह चेतावनी सुनने की मनः स्थिति में कोई शासक नहीं था, सब केवल आत्म–रक्षा के लिए चिंतित थे। परिणामस्वरूप मोहम्मद बिन कासिम और महमूद गजनवी की तुलना में निम्न कोटी का तुर्क सेनापति शहाबुद्दीन गौरी लाहौर से चला और सन् 1192 ई. में सीधा दिल्ली के लालकोट में पहुँच गया।[22]

बारहवीं सदी का भारत सामरिक, राजनीतिक, धार्मिक प्रतिमानों का निम्नतम स्वरूप प्रस्तुत करता है। राजा–महाराजाओं के तमाम दुर्गुण सामन्त सैनिकों में पूंजीभूत हो गये थे। उन्हें राजा के प्रति निष्ठावान होना सिखाया गया था देश या धर्म के प्रति नहीं। उसके राजा ने यदि तुर्कों से मित्रता कर ली तब वह तुर्कों का मित्र था, यदि किसी पड़ोसी राजा से उसके स्वामी की अनबन है तो वह उसका शत्रु था। प्रायः राजाओं के वैभव विलास के प्रदर्शन अथवा परिणय लालसा की आपूर्ति के लिए इन सैनिकों के सिर कटा दिये जाते थे। संकल्प एवं उद्देश्य से विहिन सैनिक रणक्षेत्र में हवा का रूख देखकर ही भाग खड़ा होता था। तात्कालिन भारतीय राजाओं में असीम दम्भ निराधार आत्मविश्वास के साथ–साथ कूटनीतिक चातुर्य व दूरदर्शिता अथवा सामरिक पहल का नितांत अभाव था। शुत्रु को कमज़ोर समझकर असावधान हो जाने से साहसी शत्रु के लिए सफल होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। क्षत्रियों को परास्त कर संपन्न एवं विलासी बने तुर्क भी आगे चलकर इन्हीं कारणों से अफगान एवं मुगलों से पराजित हुए। अन्ततोगत्वा जब उनसे भी ज्यादा विपन्न और लालची जातियाँ भारत आई तब गंगा–सिंधु के समृद्धिशाली क्षेत्रों में राज करने वाली मुगल–मराठा, सिक्ख ताकतें एक–एक कर धाराशायी हो गई। इस बार आक्रांता पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी अथवा अंग्रेज व्यापारियों के वेश में थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीयों ने विदेशी आक्रमणों को झेलने में असाधारण सहिष्णुता दिखाई परंतु अपनी भूमि पर उनके प्रभुत्व का स्थाई होता देखकर वे चुप न रह सके। मातृभूमि की रक्षा के लिए वे कमर कसकर सामने आये और विदेशी ताकतों का उन्होंने जमकर विरोध किया। भारत विजय में अंग्रेजों को सौ साल लग गये। भारतीय धन और जन की सहायता से उन्होंने भारतीयों से छोटी–बड़ी अनेक लड़ाईयाँ लड़ी, तब कहीं जाकर भारत उनके अधीन हुआ। विदेशी साम्राज्यवाद के विरूद्ध जन आक्रोश की अभिव्यक्ति सन् 1857 ई. सशस्त्र संघर्ष के रूप में हुई, जो संगठन में तालमेल के अभाव, पारस्परिक अविश्वास एवं सामरिक अदूरदर्शिता के परिणाम स्वरूप असफल रही। इससे पूर्व सन् 1819 का बरेली विद्रोह सन् 1831 का कोल विद्रोह तथा छोटा नागपुर, पलाकू में विद्रोह इस बात का साक्षी है कि उस समय के सामाजिक जीवन में राजनीतिक स्पन्दन था।[23]

2ण्ण आर्य समाज का प्रखर राष्ट्रवाद

स्वामी दयानंद का नेतृत्व

आर्य समाज के माध्यम से यद्यपि दयानंद ने अपने नेतृत्व को संस्थात्मक आधार प्रदान किया पर वे हृदय से संत थे और उन्हें नेतृत्व से संबंधित कोलाहल और हलचल पसंद नही थे। वे अपने व्यक्तित्व को लोकमत की सनक, दुर्भाव और आदेशों के अनुसार नहीं ढालना चाहते थे। वे उस लोकतांत्रिक नेता के सदृश्य नहीं थे जिसमें अगणित समझौते करने की क्षमता होती है। उन्हें एक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में लोकतंत्र में विश्वास था किंतु उनकी मानसिक रचना सत्तावादी नेता की रचना के सदृश्य नहीं था। उनकी ओजस्वी ललकार उनका उद्गार तथा पाण्डित्यपूर्ण वेदवाद जो परस्परवादी पंडितों के विरूद्ध संघर्ष में उनका शक्तिशाली अस्त्र था, उनकी नेतृत्व क्षमता हमें लूथर और काल्विन का स्मरण दिलाती है न कि पिट अथव न जैफरसन की। दयानंद ने मनुष्य की बौद्धिक स्वतंत्रता की घोषणा की और तदर्थ उन्होंने सब धर्मो के पवित्र साहित्य की स्वतंत्र तथा ओजपूर्ण आलोचना की, इस विषय में

उन्होंने बौद्ध शून्यवाद तथा वेदांतियों के प्रत्ययवादी एकत्ववाद के साथ भी रियायत नहीं की। चूँकि दयानंद का वैदिक पुनरूत्थान संस्कृतियों और सभ्यताओं की चुनौती के विरूद्ध एक संतुलनात्मक साधन था, इसलिए वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता का पक्षपोषक बन गया। स्वामी दयानंद ने हिन्दुओं की आत्मा को उसी प्रकार स्वतंत्रता प्रदान की जिस प्रकार लूथर ने यूरोपिय

पेज नं 6

आत्मा को प्रदान की थी। उन्नीसवीं सदी में एकेश्वरवाद का ऐसा शक्तिशाली शिक्षक मानव एकता का ऐसा उपदेष्टा, आध्यात्मिकता से पूँजीवाद के विरूद्ध संघर्ष करने वाला ऐसा सफल योद्धा अन्यत्र नहीं था। अरविंद ने उन्हें भारत की एक महान निर्माणकारी आत्मा बताते हुए लिखा है, 'वह एक ऐसे महापुरूष थे जो कि निश्चित तथा स्पष्ट रूप से जानते थे कि मुझे किस कार्य हेतु भेजा गया है। उन्होंने एक सर्वोपरि आत्मबल के साथ अपनी स्थितियों का निर्धारण किया, अपने यंत्रों को चुना और एक जन्मजात कर्मठ के प्रबल अधिकार के साथ अपने संकल्प को पूरा किया।'[24]

अन्तःमन से परिस्थितियों को हृदयगम कर दयानंद ने धार्मिक–सांस्कृतिक पुर्नजागरण का प्रण किया और उद्देश्य पूणार्थ आर्य समाज की स्थापना की। वैसे महर्षि दयानंद ने इसका आरंभ पाखण्ड खण्डनी ध्वजा के नीचे सन् 1867 में हरिद्वार में कुंभ मेला के अवसर पर किया था, परंतु इसका मूर्तरूप सन् 1871–72 ई. में कलकत्ता में सुस्थिर हो सका और अन्ततः अप्रैल 1875 में बंबई में इसकी स्थापना की गई। अपने जीवन काल में महर्षि जी पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं अन्य प्रांतों में अधिकांश आर्य समाज की स्थापना में सफल हो गये थे। लोकतंत्रीय सिद्धांतों पर आधारित आर्य समाज संगठन की विशिष्टता एवं उसके कार्य की महत्ता को शीघ्र की अनुभव किया जाने लगा। इससे पूर्व किसी धार्मिक समाज में लोकतंत्रीय प्रणाली का ऐसी पूर्णता से प्रयोग नही किया गया था। अपनी आय का एक प्रतिशत दान में देने वाला काई भी व्यक्ति समाज का सदस्य (आर्य सभासद) हो सकता है। यह वर्ग अन्तरंग सभा चुनता है, हर समाज अपने प्रांत की प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का चुनाव करता है। प्रतिनिधि सभाएँ, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में अपने प्रतिनिधि भेजती है।

आर्य समाज संगठन मुख्यतः धार्मिक होते हुए भी परोक्ष रूप से राजनीति से अभिन्न रहा है। उसका उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार के साथ–साथ राष्ट्रीय भावोद्दीपन भी था। उसने देश में लोकतंत्रीय विचारों को दो प्रकार से बल प्रदान किया। प्रथम, उसने जाति को जन्म से न मानकर गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल माना। द्वितीय, समाज के संगठन में चुनाव द्वारा प्रतिनिध्यातमक प्रणाली अपनाई गई। निर्वाचन के सिद्धांत को अपनाना हिन्दू धार्मिक व्यवस्था जिसमें ब्राम्हण वर्ग की सत्ता परंपरागत भावनाओं पर आधारित थी, में बदलाव का एक क्रांतिकारी कदम था। आर्य समाज ने युगों से सुप्त पड़ी हुई स्वदेश प्रेम (भारतीयता) की भावना को गहरी उत्तेजना प्रदान की। उसने आत्मा के प्रदीपन और सामाजिक दृढ़ता दोनो को ही आवश्यक बताया। उसने धर्म शास्त्रीय तथा सामाजिक विषयों में बुद्धिवाद तथा स्वतंत्रता का पक्षपोषण किया। यह सत्य है कि उसका बुद्धिवाद मनुष्य की बुद्धि को धर्म शास्त्रों के बंधनों से पूर्णतः मुक्त करने की घोषणा नहीं करता, किन्तु उसकी यह घोषणा कि धार्मिक मामलों में निर्णय का अधिकार बुद्धि को है न कि अंधविश्वास मूलक श्रद्धा को, एक महत्वपूर्ण उग्र कदम था। अतः वह भारत में स्वतंत्रता का संदेश वाहक बन सका। सामाजिक चिंतन तथा धर्म विद्या के क्षेत्र में आंशिक बौद्धिक स्वतंत्रता का उदय राजनीतिक स्वतंत्रता की नींव बन गया।

महर्षि दूरदर्शी उन अद्वितीय महापुरूषों में से रहे हैं जिन्हें दिव्य दृष्टि की समझ होती है। वैदिक धर्म और संस्कृति को पुनर्जीवित करना उसका एकमात्र ध्येय था। उन्होंने भारत की सोई हुई आत्मा को ढूंढ लिया और उसे राष्ट्रीय जीवन की प्रमुख शक्ति बना दिया। स्वामी दयानंद का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था। उन्होंने विस्तारपूर्वक राजनीति पर मनन–चिंतन नहीं किया किंतु जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के संपर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता स्वमेव उत्पन्न हो गई। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को राष्ट्रधर्म से समीकृत किया। राष्ट्रधर्म का अभिप्राय भारत की उस परंपरागत गरिमा से है जिसने समस्त देशवासियों को एकता के सूत्र में आबद्ध किया हुआ है। राष्ट्र तथा धर्म तथा धर्म के प्रति श्रद्धा की भावना प्रान्तीयतावाद, सम्प्रदादवाद तथा जातिवाद की ओर विरोधनी है। राष्ट्र प्रेम तथा धर्मनिष्ठा एक दूसरे के पूरक है।

पेज नं. 7

भारत की दुःखद फूट को दूर करने के लिए तथा सामाजिक दृष्टि से देश को एकताबद्ध करने के लिए दयानंद जातियों तथा वर्गो के भेदभाव को नष्ट करना चाहते थे उसे राजनीतिक दृष्टि से एक करने के लिए भारत को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाना चाहते थे।[25] उनके वैदिक पुनर्जागरण के आदर्श ने भारतीयों के चरित्र निर्माण, नैतिक शुद्धिकरण एवं सामाजिक पुनरूत्थान पर बल दिया। दयानंद की कल्पना का मनुष्य रूसों का रोमांसप्रिय व्यक्ति नहीं है जो प्रकृति के परमानंद का उपभोग करता रहता है, उनका आदर्श ऐसा निर्भिक व्यक्ति है जो न्याय तथा सत्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहता है और अत्याचार के शक्तिशाली दुर्गो के सामने भी नतमस्तक नहीं होता। केवल निर्भीकता राजनीतिक रूप धारण कर लेने पर एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो उत्पीड़न तथा निरंकुश साम्राज्यवाद का सामना कर सकती है। अंततः निर्भिकता ही मानव अधिकारों की प्राप्ति का आधार है।

स्वदेशी

भारत में बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक यानि 1905 ई. में बंगाल विभाजन के समय स्वदेशी आंदोलन प्रबल हुआ, जिसके अनुसार अपने देश में उत्पन्न वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया। स्वामी दयानंद सरस्वती जी ने इससे बहुत पहले अपने देश की वस्तुओं के उपयोग पर बल दिया।उनका विचार था कि भारतीयों को अपने देश की वस्तुओं पर गर्व का अनुभव करना चाहिए और अपनी भाषा, अपने धर्म और परम्पराओं का पालन करना चाहिए।

स्वामी जी अपने संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को निरंतर स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की प्रेरणा देते रहते थे। 14 अगस्त 1879 ई. के स्टेट्समैन की रिपोर्ट के अनुसार लाहौर आर्यसमाज के सब सदस्यों ने आर्य समाज मंदिर में इकट्ठा होकर यह निर्णय किया था कि वे विदेशी वस्त्रों को नहीं पहनेंगे और केवल ऐसे वस्त्रों का उपयोग करेंगे जो भारत में बने हो। संभवतः भारत में पहली बार यह किसी संस्था द्वारा विदेशी वस्त्रों के बायकाट और स्वदेशी कपड़ों को अपनाने का सामूहिक प्रयास था।

स्वामी जी की स्वदेश प्रेम की भावना इस कथन से और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि ''जब स्वामीजी ने ऊधोसिंह नामक नवयुवक को विदेशी कपड़े पहने हुए देखा तो उन्होंने उनसे कहा था – क्या तुम विदेशी कपड़े से बने नये वेष से विभूषित होकर अपने पिता से अधिक सुसंस्कृत हो गये हो? उद्धव अपने ही देश के वेष को पहनने में शोभा है।

स्वामी जी 'स्वदेशी' शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में करते थे। इसमें वे अपनी भाषा और संस्कृति को भी समझते थे और इन्हें अपनाने पर बल देते थे।[26]

महर्षि का उद्घोष – ''वेदों की ओर लौटो''

उन्नीसवी शताब्दी में भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले व्यक्ति अपने आप को पंजाबी, हिन्दुस्तानी, मराठी, गुजराती, बंगाली और मद्रासी के रूप में समझते थे। भारतीय होने की उनमें कोई कल्पना नहीं थी। हिन्दु जाति कई जातियों, उपजातियों तथा वर्गों में बंटी हुई थी। धार्मिक दृष्टि से वे शैव, वैष्णव, शाक्त आदि विभिन्न देवी–देवताओं के उपासक थे, एक–दूसरे से किसी प्रकार की एकता का अनुभव नहीं करते थे, अपितु उनमें कई बार तीव्र साम्प्रदायिक विद्वेष और वैमनस्य की भावना भी पायी जाती थी। ऐसी स्थितियों में धार्मिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से महर्षि जी ने भारतीय राष्ट्रवाद को निश्चित मोड़ दिया। उनकी सबसे बड़ी समस्या उपरोक्त वर्णित नाना पंथों, पौराणिक संप्रदायों, अंधविश्वासों एवं मतों से जर्जरित समाज को पुनर्जीवन देने की थी। राष्ट्रीय अस्मिता को क्षीण कर रहे इस्लाम एवं ईसाइत के प्रहारो से हिंदुत्व को संरक्षण करना दूसरी प्रमुख समस्या थी। दयानंद ने इन सारी परिस्थितियों का

पेज नं. 8

विश्लेषण किया और समस्या का सफल निदान खोज निकाला। उन्होंने दो टूक शब्दों में कहा – ''आर्य विशिष्ट जाती है, वेद विशिष्ट ग्रंथ है, आर्यव्रर्त विशिष्ट भूमि है।'' वे विदेशीयों की किसी धार्मिक–सांस्कृतिक घुसपैठ को सहन करने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि वे समझते थे कि किसी विदेशी प्रभाव को अंगीकार कर लेने से राष्ट्रीय भावना, जिसका वे पोषण करना चाहते थे, संकट में पड़ जायेगी।[27]

स्वामी दयानंद भारत में आध्यात्मिक जागृति के मार्टिन लूथर थे।[28] जिस प्रकार लूथर ने शाश्वत सत्य के सहारे बाइबिल के सिद्धांतों का समर्थन किया। उसी प्रकार दयानंद ने सनातन सत्य को वेद ज्ञान के अनुसार जीवन में उतारा। संतपाल और मार्टिन लूथर की संयुक्त शक्ति से इस अकेले योगी ने विदेशी धर्मो से टक्कर लेने के लिए बाइबिल और कुरान की तुलना में वेदों को सर्वोच्च स्थान देकर आक्रांताओं की नीति से उनका सामना किया। उन्होंने देशी पौराणिकों को उसी प्रकार सफल चुनौती दी जैसे जर्मन संत मार्टिन लूथर ने रोमन चर्च को दी थी। मार्टिन लूथर का नारा ''बाइबिल की ओर लौटो'' भारतीय संदर्भ में ऋषि दयानंद का ''वेदों की ओर लौटो'' बन गया।[29] इस धार्मिक नारे की राजनीतिक निष्पत्ति 'आर्यावर्त आर्यो के लिए है' के रूप में हुई।[30] इस प्रकार युग–दृष्टा दयानंद ने भारतीय जनता के लिए न केवल राष्ट्र धर्म, अपितु राजधर्म अर्थात भारतीय जनता की संप्रभुता का भी स्पष्ट शब्दों में निर्धारण कर दिया।

स्वामी दयानंद का निश्चित मत था कि वैदिक शिक्षाओं के पालन से स्वशासन एवं स्वराज्य स्वतः सुलभ हो जायेंगे।[31] हिन्दुत्व को निन्दित एवं आक्रांत देखकर जब धर्मरक्षा के लिए महर्षि प्रवृत्त हुए, तब यह दिखाई पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने योग्य नहीं है। महर्षि ने उतने ही हिन्दुत्व का रक्षणीय माना जिसका आख्यान वेदों में मिलता है। उन्होंने संहिताओं को तो प्रमाण माना किन्तु उपनिषदों पर वही श्रद्धा नहीं दिखाई। छः शास्त्रों और अठारह पुराणों को तो उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया और राम–कृष्ण को अवतार मानने से इंकार कर दिया। बुद्धिवाद की कसौटी पर चढ़े हुये हिन्दुत्व के इस निखार ने देश में एक नये स्वाभिमान, आत्मविश्वास को जन्म दिया। मूर्ति पूजा, अवतारवाद, लीला, तीर्थ, श्राद्ध, स्वर्ग–नरक, दान–पुण्य आदि अनेक पौराणिक कर्मकाण्डों के जाल से मुक्त करके जनता को वेदों की ओर ले जाने का यह प्रयास प्रशंसनीय अवश्य था किन्तु वेदों को समस्त ज्ञान–विज्ञान का अक्षय कोष मान लेने से लोगों के स्वतंत्र ज्ञानोन्मेष में बाधा भी पड़ी।

स्वामी दयानंद द्वारा वेदों को सत्य का एकमात्र स्त्रोत मानना, भारत की समन्वयवादी परंपरा से भिन्न विचार है। भारतीय दार्शनिकों ने सत्य की सर्वव्यापकता पर हमेशा जोर दिया है। यद्यपि उस समय यह दृष्टिकोण एक तरह से हिन्दुत्व की कमजोरी ही माना जा रहा था। जैमिनी और व्यास से लेकर राजा राममोहन रॉय तक सभी ने वेदों को महान मानते हुये भी उनको सत्य ज्ञान का एक मात्र स्त्रोत नहीं माना। लेकिन दयानंद ने इस परंपरा को तोड़कर भी राष्ट्र की सेवा की। हिन्दुतव पर ईसाइत और इस्लाम जो प्रहार कर रहे थे, उससे टक्कर लेने के लिए वेदों को सर्वोच्च स्थान देकर विदेशीयों की नीति से ही उनका सामना करना रणचातुर्य था। उनके विचारों की कट्टरता, प्रखरता ही उनकी सबसे बड़ी शक्ति बन गई।

हिन्दी और राष्ट्रीय एकता

उन्नीसवी शताब्दी में ब्रिटिश शासक ने अंग्रेजी भाषा को भारत में शिक्षा का माध्यम बनाया था। सरकारी कार्य के लिए यही भाषा काम में लायी जाती थी। महर्षि दयानंद इसे सर्वथा अवांछनीय और अनुचित समझते थे। उन्होंने संभवतः सबसे पहले इसके विरूद्ध आवाज़ उठायी और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर तथा सरकारी कार्यो के लिए प्रयोग में लाने पर बल दिया। वे हिन्दी के लिए आर्य भाषा का प्रयोग करते थे, क्योंकि इसे वे संपूर्ण आर्यवर्त की भाषा मानते थे। सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुलास में उन्होंने शिक्षा में

पेज नं. 9

इसे महत्वपूर्ण स्थान देते हुए लिखा था कि बच्चों की शिक्षा का प्रारंभ देवनागरी लिपि से कराया जाय। उनके पठन–पाठन की विधि में संस्कृत और हिन्दी का प्रमुख स्थान है। राजकीय कार्यो और आपसी व्यवहार में वे इसी भाषा का प्रयोग करने पर बल देते थे। उनकी प्रेरणा से सरकार को इस आशय का एक ज्ञापन या मेमोरियल देने की तैयारी की गयी थी। इसमें इस बात पर बल दिया गया था कि लोकाचार एवं राजकाज में हिन्दी का प्रयोग किया जाय। उन्होंने लाला कालीचरण, रामचरण, और बाबू दुर्गा प्रसाद को इस बारे में पत्र लिखते हुए बताया थ कि पंजाब आदि के राजकार्य में आर्य भाषा के प्रयोग के लिए सरकार को मेमोरियल भेजे गये हैं, किंतु फर्रूखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गये हैं। यहाँ से भी मेमोरियल भिजवाए जाने चाहिए। इस प्रकार महर्षि ने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा तथा सरकारी कामकाज की भाषा के लिए आन्दोलन चलाया था।[32]

महर्षि की मातृभाषा गुजराती थी, इनके साथ ही वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। सन् 1874 ई. तक वे तात्कालिन विद्व मण्डली में समादृत संस्कृत भाषा में ही उपदेश देते रहे। हिन्दी का प्रयोग उन्होंने ब्रम्हसमाजी श्री केशवचंद्र सेन के सुझाव पर प्रारंभ किया। श्री सेन का यह विचार था कि संस्कृत को केवल संस्कृत भाषी पण्डित ही समझ सकते थे। यदि स्वामी जी भारत में सामान्य जनता द्वारा बोली और समझी जाने वाली लोकभाषा हिन्दी में अपने भाषण दे तो उनके उपदेशों से अधिक लोग लाभ उठा सकेंगे। इस युक्ति को स्वीकार कर स्वामी दयानंद हिन्दी भाषा को अपना माध्यम बनाया।

आर्यावर्त, आर्यों के लिए

आर्य समाज एक साथ ही धार्मिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय पुनर्जागरण का आंदोलन था जिसने भारत को नवजीवन प्रदान किया। उल्लेखनीय है कि ब्रम्हा समाज, प्रार्थना समाज परम्परा के उदारवादी नेता सच्चे लोकतंत्रवादी नहीं थे, क्योंकि उनकी प्रतिनिधि संस्थाओं की माँग लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत पर आधारित नहीं थी। उनका आधार हिन्दु जनता के लिए शासन था, जनता द्वारा शासन नहीं था – अच्छा शासन था, लोकतंत्र नहीं। इसके विपरीत आर्य समाज आंदोलन से प्रभावित राष्ट्रवादी नेता पूर्ण स्वराज्य से कुछ कम नहीं लेना चाहते थे। उनका विश्वास था कि इससे निम्न कोई आदर्श राष्ट्रीय पुनर्जागरण को प्रेरित नहीं कर सकता और जनता को उस घोर, कठोर तथा भयंकर संघर्ष के लिए तैयार नहीं कर सकता जिसके बिना भारत स्वतंत्र राष्ट्र नहीं बन सकता था।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने 'आर्यावर्त आर्यों के लिए' का जो संदेश देशवासीयों को दिया था, सन् 1906 ई. में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में 'भारतवर्ष भारतीयों के लिए' के रूप में दोहराया गया। स्मरण रहे कि इस अधिवेशन में पहली बार दादा भाई नौरोजी ने औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग रखी थी। सन् 1905 ई. बंग–भंग से उत्पन्न रोष को अभिव्यक्ति देने के लिए और उदारवादी–राष्ट्रवादी संघर्ष को टालने के दृष्टिकोण से कांग्रेस अध्यक्ष ने कहा ''हम दया की भीख नहीं मांगते, हम तो केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश नागरिक के रूप अपने अधिकारों की छोटी–छोटी बातों का जिक्र करने की बजाय हम सारी बातों को एक शब्द में रख सकते हैं और वह है संयुक्त राज्य अथवा औपनिवेशों की तरह का स्वशासन या स्वराज्य।'' सन् 1909 में राष्ट्रीय आन्दोलन ने जिस महत्वपूर्ण दौर में प्रवेश किया उसका अंतिम अध्याय सन् 1929 का लाहौर कांग्रेस अधिवेशन है जिसमें जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इस प्रकार स्वामी दयानंद के विचार कांग्रेस के इक्कीसवें अधिवेशन से लेकर आगामी सभी वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य स्वर बने रहे।[33]

महर्षि ने सत्याथ्र प्रकाश में लिखा है 'यह आर्यावर्त देश ऐसा है कि जिसके सदृश्य भूगोल में दूसरा देश नहीं है। आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूपी विदेशी छूते ही स्वर्ण अर्थात धनाढ्य हो जाते है।'[34] दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि 'जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे होगा, उसकी उन्नति तन–मन–धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।'[35] महर्षि के ग्रंथों में स्वदेशाभिमान कूट–कूट कर भरा है। 'सत्यार्थ प्रकाश' के एकादश समुल्लास की प्रस्तावित पंक्तियां है 'सृष्टि से

पेज नं. 10

लेकर पाँच सहस्त्र वर्षो से पूर्व समय पर्यन्त आर्यो का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात छोटे–छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव–पाण्डव पर्यन्त यहाँ के राजाओं के शासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चलते थे।'[36]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वामी दयानंद ने आर्यावर्त की जो ऐतिहासिक सीमा बांधी है, वह विध्यांचल पर समाप्त हो जाती है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वमंतस्यामंतव्य प्रकाश में उन्होंने लिखा है 'आर्यावर्त देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते थे, परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय,दक्षिण में विध्यांचल,पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रम्हपुत्र नदी हैं। इन चारों ' के बीच में जितना देश है उसको आर्यावर्त कहते हैं और जो इसमें रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं।[37] स्पष्ट हैं कि दयानंद वर्णित आर्यावर्त का भौगोलिक पर्याय आधुनिक भारत नहीं है जो विध्यांचल से परे कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण है। इस तथ्य का भी आर्य समाज ने जोरदार प्रचार नहीं किया कि आर्य शब्द जाति सूचक नहीं अपितु गुणवाचक है। न केवल वैदिक काल में अपितु रामायण, महाभारत काल में भी आर्य विशिष्ट परम्परा, विचारधारा का प्रतीक था। भारत में जो अनेक जातियों का समन्वय हुआ है उसकी आर्यसमाज ने उपेक्षा की है। द्रविड़ भाषा एवं संस्कृति में सन्निहित हिन्दुत्व की उपेक्षा का ही दुष्परिणाम है कि दक्षिण भारत में
आर्यसमाज को संदिग्ध दृष्टि से देखा गया है। हिन्दुत्व के उपकरण केवल संस्कृत में ही नहीं अपितु संस्कृत के ही समान प्राचीन भाषा तमिल में भी उपलब्ध है।

निष्कर्षः–

महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज पूर्णतः राष्ट्रीय आन्दोलन था। यह महान कार्य स्वामी जी की प्रेणा से प्रादुर्भूत हुआ था। और अपने देशभक्तिपुर्ण उत्साह में उसका स्वरूप आक्रमणात्मक था। इसने एक ओर तो वेदो की निर्भान्तता और वैदिक संस्कृति की सर्वोत्कृष्टता पर बल दिया और दुसरी ओर यह व्यापक समाज सुधार द्वारा स्वतंत्रता के समर्थक थें। इस प्रकार इसने राष्ट्र में एक ऐसी पौरूषपूर्ण राष्ट्रीय भावना वाले समुदाय का विकास किया जो परम्परा से प्राप्त सर्वोत्कृष्ट तत्वो का तत्कालिन परिस्थितियो के सर्वोत्कृष्ट अंशो के साथ सुन्दर समन्वय था। महर्षि आधुनिक भारत के धार्मिक नेताओ ने प्रथम महापुरूष थे। जिन्होने स्वराज्य शब्द का सर्वप्रथम उपयोग किया। हिन्दी को भारत का राष्ट्र भाषा स्वीकार किया है और भारतीयो को अपने पर गर्व करना सिखाया। महर्षि जी प्रथम व्यक्ति थें जिन्होने राष्ट्र की अवधारणा दी है। महर्षि द्वारा मुखरित–स्वादेशी,स्वराज्य,देशप्रेम,राष्ट्रीयता–––आदि भावनाओ की आधारशिला पर ही हमारी राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़े गहराई मे समायी हुई थी और इन्ही आदर्शो को आत्मसात कर राष्ट्रीय आन्दोलन विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुचा। यही कारण है कि हमारी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रत्येक आयामो पर महर्षि जी के सिद्धान्तो का प्रभाव पड़ा। चाहे वे गोपाल कृष्णा गोखले जिसे माहत्मा गॉधी जी ने अपना गुरू स्वीकार किया था, के नेतृत्व में उदारवादी विचार धारा हो, या अहिंन्सक सत्य,नैतिक्ता पर अधारित गॉधी वादी विचार धारा हो, या फिर क्रातिंकारी भगतसिंह,रामप्रसाद बिस्मिल,श्याम जी कृष्णा वर्मा––––––––आदि के नेतृत्व में क्रांतिकारी विचार धारा हो या कहे लाल–बाल–पाल के नेतृत्व में उग्रवादी विचार धारा हो। प्रत्येक आयामो पर आर्यसमाज का प्रभाव बराबर परिलक्षित होता हैं।

आर्यसमाज कोई जाति, पंथ या समुदाय का नाम नही हैं बल्कि एक विशुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन है जिसका सुस्पष्ट उद्देश्य भारत की आर्यसंस्कृति को पुर्नस्थापित करना है जो भारत का गौरवशालि युग था। महर्षि जी का मन्तव्य था कि आर्य किसी विषेश जाति का नाम नही हैं और न ही किसी देश–विदेश के निवासीयो की संज्ञा आर्य है, बल्कि आर्य का तात्पर्य सभ्य,कूलीन,उत्तम,विद्ववान––––आदि से है।

पेज नं. 11

संदर्भ सूची

ख1, जायसवाल, काशीप्रसाद, 'हिन्दू पालिटीः बंगलोर सिटी', दि बंगलोर प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कं. लि. 1943, पृ. 81

ख2, अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति', प्रयाग भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, 1946, पृ. 54

ख3, जायसवाल, काशी प्रसाद, 'पूर्वोक्त : पृ. 245

ख4, ऋग्वेद पृ. 7; 34.11

ख5, एतरेय ब्राम्हण 10.57 – 1

ख6, ऋग्वेद पृ. 10.134.5

ख7, ऋग्वेद पृ. 10.134.5

ख8, महाभारत, शान्ति पर्व, 29, 121

[9], महाभारत, उद्योग पर्व, 33, 112
[10], महाभारत, शान्ति पर्व, 107, 21
[11], महाभारत, शान्ति पर्व, 262, 9
[12], यजुर्वेद, 36, 18
[13], ऋग्वेद पृ. 1, 89
[14], ऋग्वेद पृ. 10.191, 2.4
[15], यजुर्वेद, 22.22
[16], अथर्वेद, 19.37.3
[17], यजुर्वेद, 23
[18], भास्कर, आर, 'सोश्योलॉजी आफ पालिटिक्स', बम्बई एशिया पब्लिसिंग हाउस, 1967, पृ. 14
[19], मुखर्जी राधाकमल, 'दि कल्चर एण्ड आर्ट आफ इण्डिया' जार्ज एलन एण्ड अनविन लण्दन, 1959, पृ. 342
[20], लेन होर्न, 'फ्लूटार्कस लाइफ्स', पृ. 485 विद्यामंदिर प्रकाशन मुरार, ग्वालियर, 1973 द्विवेदी हरिहर निवास, दिल्ली के तोमर; शोधग्रंथ में उद्धृत, पृ. 304, ग्वालियर
[21], द्विवेदी, हरिहर निवास, 'पूर्वोक्त', पृ. 305
[22], डाडवैल, एच.एच. (सम्पा.), 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया', भाग–3, कैम्ब्रिज 1932 पृ. 90
[23], अग्निहोत्री, वी.के., 'भारतीय इतिहास', एलाइड पब्लिशर्स प्रा.लि. नई दिल्ली अष्टम संस्करण – 2003, पृ. 117, 119
[24], अरविंद, 'बंकिम–तिलक–दयानंद', श्री अरविंद आश्रम, पाण्डिचेरी प्रेस, लण्डन, 1933, पृ. 38
[25], जकारिया; एच.सी.ई.; दि रिनेसा इण्डिया', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लण्डन, 1933, पृ. 38
[26], विद्यालंकार, सत्यकेतु, आर्य समाज का इतिहास', खण्ड–4 पृ. 73, 74
[27], मि.एलण्ट, 'सेन्सस रिपोर्ट', 1911 संयुक्त प्रान्त आगरा एवं अवध की जनगणना रिपोर्ट पृ. 120
[28], हेस्टिंग्स, जेम्स (सम्पा.)', इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स खण्ड– दो, सं. 7, पृ. 58, 59
[29], ग्रिसवाल्ड, एच.डी., 'दि प्राब्लम ऑफ आर्य सम्पादन' मॅसूरी कान्फेस में पढ़ा गया।
[30], पूर्वोक्त, शोध लेख ; 26 सितम्बर 1901, पृ. (लाहोर 1901)
[31], पूर्वोक्त, पृ. 11
[32], श्री पं. भगवदत्त, 'ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन', (संपा.) रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहलगढ़, हरि सितम्बर 1981, पृ. 960, 961, 962
[33], सिंह डॉ. विजेन्द्र पाल, 'भारतीय राष्ट्रवाद, प्रथम संस्करण – 1977, पृ. 31
[34], दयानंद, सरस्वती, 'सत्यार्थ प्रकाश', वैदिक यंन्त्रालय अजमेर 1943, पृ. 172, 173
[35], पुर्वोक्त ; पृ. 174
[36], पुर्वोक्त ; पृ. 181
[37], राजधर्म के प्रतिपादन में स्वामी दयानंद ने 'मनुस्मृति को प्रमाण माना है। मनुस्मृति 2, 17, 19, 21, 22
[38], विद्यालंकार, सत्यकेतु, 'आर्य समाज का इतिहास ; खण्ड 1, पृ. 674
[39], होम पोलिटिकल डिपार्टमेंट, प्रोसीडिंग्स आफ दी गवर्नर आफ इण्डिया, फाइल संस्था 24/कॉग्रेस/42 सी, अगस्त–अक्टूबर 1942
[40], वेदशास्त्री, दीनबधू, 'सार्वदेशिक' सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली 1971, पृ. 105

पेज नं. 12